01 कला, राजनीति, बोध

कौस्तुव रॉय

"कला सीखने का औचित्य क्या है?" यह एक ऐसा प्रश्न है जो कभी सौम्य–शिष्ट तरीके से तो कभी प्रतिकूल भावना से पूछा जा सकता है, कभी जिज्ञासा से तो कभी तुच्छ, उपेक्षा भरे भाव से प्रेरित हो सकता है। कला–प्रशिक्षक इस प्रश्न के आदी हैं, और यह सवाल कई ओर से आ सकता है – माता–पिता की ओर से, शिक्षकों–प्रशासकों की ओर से और विद्यार्थियों की ओर से तो आ ही सकता है। यह सवाल कई ऐसे बुनियादी सवालों के कन्धों पर चढ़कर आता है जिन्हें बहुधा अभिव्यक्त ही नहीं किया जाता। जैसे, "क्या कला विलास का एक साधन या मध्य–वर्गीय शगल नहीं है?" "क्या कला को उनके लिए न छोड़ दिया जाए जो वास्तव में इसमें दिलचस्पी रखते हैं, या प्रतिभावान हैं?" "कला व्यवहार में कैसे लाभदायक है?" "डिजिटल उत्पादन और पुनरोत्पादन के युग में क्या कला एक अनावश्यक चीज नहीं हो गई है?" आदि आदि। मेरे विचार से ये पूछे जाने लायक सवाल हैं। मैं ऐसे तीखे सवालों को भी आमतौर पर सभ्यता और शिष्टता के दायरे में रहते हुए स्वीकारता हूँ, प्रत्युत्तर में यह नहीं कहता कि "यदि बच्चों की सोच के 'गणितीकरण' को बिना किसी सवाल या शक के स्वीकार किया जा सकता है तो उसके सौन्दर्यबोधीकरण को क्यों नहीं स्वीकारा जा सकता?" लेकिन प्रत्येक प्रश्न कुछ बुनियादी पूर्व–मान्यताओं पर आधारित होता है। इसलिए शुरू में किए गए प्रश्न से केवल सतही तौर पर ही सम्बोधित होना हो तो भी हमें शुरुआत इस बात से करनी होगी कि सामूहिक सामाजिक मानस–पटल पर कला की धारणा, उसकी छवि क्या है, क्योंकि यही उसके उद्गम का स्थान है।

आमतौर पर जब हम कला के बारे में सोचते हैं तो ध्यान में आते हैं चित्रकला के लिए काम आने वाले कैनवस, पानी के रंग, बुत तथा मूर्तियाँ और ऐसी ही अन्य शिल्प–कृतियाँ। दूसरे शब्दों में, उभरने वाले अधिकतर बिम्ब कलात्मक प्रयत्नों का अन्तिम उत्पाद होते हैं। दूसरी ओर गणित की बात हो तो हम पाएँगे कि हमें गणितीय तार्किकता या गणितीय सोच, यहाँ तक कि गणितीकरण की बात सुनने को मिलती है। दूसरे शब्दों में, जहाँ एक ओर तार्किक या व्यवस्थित सोच को महत्त्व दिया जाता है, कला को आमतौर पर दिखाई देने वाले अन्तिम उत्पादों या वस्तुओं के सन्दर्भ में आंका जाता है, विचार और अनुभूति के सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में नहीं। इसलिए हैरत नहीं कि ऊपर जिक्र में आए सवाल किए जाते हैं। क्योंकि यदि कला को केवल शिल्प–कृतियों से ही आंका जाता है और माना जाता है कि स्कूली शिक्षा या सामूहिक तौर से समाज के लिए उसका कोई प्रभाव नहीं है, तो स्वाभाविक तौर पर बेहतर यही माना जाएगा कि उसे कार्यरत कलाकारों के हवाले रखा जाए जो कम से कम मूल्यवान चीजें तो बना पाएँगे।

लेकिन आइए, यह खोज तो करते ही हैं कि क्या कला इससे कुछ अधिक भी है? इसलिए हमें सवाल करना होगा कि क्या कला के सीखने–सिखाने का कोई ऐसा महत्त्व भी है जो आसानी से दिखाई न देता हो, जो बस शिल्प–कृति के साथ मेल न खाता हो? यदि ऐसा है, तो सवाल उठता है कि इस बात का अवधारणात्मक आधार क्या है, उसकी विशेषताओं को कैसे निर्धारित किया जाए और उसकी प्रथाएँ और प्रचलन क्या हैं?

कला की राजनीति

गणित की ही तरह कला भी एक अलग तरीका है स्पेस या खाली स्थान को बाकी चीजों के अलावा देखने–समझने का, उसकी अनुभूति और बोध का। इसलिए कला में सम्भावना है कि उसे संसार का वर्णन और व्याख्या करने के लिए इस्तेमाल में लाया जा सके। और क्योंकि संसार की व्याख्या सम्बन्धी किसी भी प्रक्रिया में विकल्पों का चुनाव और पसन्द शामिल रहते हैं, कला की भाषा एक न्यूनतम स्तर पर भी राजनीतिक हो जाती है। साथ ही, जब कला आत्मविश्लेषक होती है (जैसा कि अकसर होता ही है) तो वह सामान्य अनुभव से परे, अवचेतन की, मानस–पटल की भी पड़ताल करती है, उसमें हस्तक्षेप करती है, व्यक्तिगत सम्बन्धों के स्तर पर भी कार्य कर सकती है–जिससे उसका कार्य सूक्ष्म स्तर पर भी राजनीतिक हो जाता है। उदाहरण के लिए, हम जानते हैं कि शास्त्रीय चित्रकला कभी–कभी दास–समाज के लाभ में इस्तेमाल होती रही और सम्पत्ति–सम्बन्धों को सुरक्षित रखती रही। इसी तरह, दूसरे छोर पर घनवाद/आयाम चित्रण (क्यूबिजम) ने किसी भी वस्तु या विषय को एकआयामी परिप्रेक्ष्य से देखने की कवायद को समाप्त करके एक पूरे दौर का अन्त किया – संसार तथा उसके भीतर के विषय–सम्बन्धों को देखने के एक नए तरीके की शुरुआत की। इरादा हो चाहे न हो, जाने–अनजाने ये दोनों ही राजनीतिक अवस्थाएँ हैं। इसलिए मैं दलील देना चाहूँगा कि कला जब संसार को वर्णित तथा पुन:वर्णित करती है तो वह स्थान/स्पेस को भी पुनर्गठित करती है–वह चाहे चित्रण/प्रदर्शन के माध्यम से हो या अमूर्तिकरण के माध्यम से, और चाहे भिन्नता या दोहराव के माध्यम से।



Jean Metzinger, Woman with a Horse, 1911

इसलिए यदि कला ताकत या सत्ता को सामान्यीकृत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, तो क्या वह विभिन्न स्तरों और रूपों में उसके रहस्योद्घाटन में और उसके सामान्यीकृतरहित होने में भूमिका नहीं निभा सकती? मैं यहाँ एक सीमित ढंग से इसी प्रश्न को सम्बोधित करना चाहता हूँ। क्योंकि अगर जवाब 'हाँ' में है, तो इसका अर्थ है कि शिल्पकृतियों के अलावा कलात्मक सोच नाम की कोई चीज भी होती है, और वह उतनी ही प्रासंगिक है जितना कि गणितीय सोच। यदि शिक्षा और सीखना का अर्थ स्वतंत्रता तथा आत्मज्ञान की तलाश है तो मानव की नियति में कला का भी उतना ही योगदान होगा जितना कि विज्ञान या गणित का।

घनवाद और अतियथार्थवाद: परिवर्तन के आयाम

ऊपर की गई बात को सिद्ध करने के लिए हम बीसवीं सदी में उभरकर आई कला की दो शैलियों पर नजर डालेंगे। देखेंगे कि इनसे हमें कलात्मक सोच और तार्किकता के बारे में तथा सामाजिक–राजनीतिक क्षेत्र पर इनके प्रभाव के बारे में क्या जानकारी मिलती है। कला के क्षेत्र की ऐसी पहली मुहिम है क्यूबिजम यानी घनवाद। न्यूयॉर्क के म्यूजियम ऑफ मॉडर्न आर्ट के संग्रहालय–अध्यक्ष अल्फ्रेडबार के मुताबिक, "क्यूबिजम की ईजाद पिकासो और ब्राक के नाम है लेकिन इसके प्रेरणा स्रोत सेज़ैन थे जिन्होंने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि चीजों के प्राकृतिक स्वरूपों को यदि उनके ज्यामितीय सारतत्व में सरलीकृत कर दिया

जाए तो असल में तो वे क्यूब (घन) और सिलिण्डर (बेलना. कार) हैं। यह घनवाद का पहला चरण था। एक बार रूप–आकार को घन, बेलनाकार और दायरों/ गोलों में परिवर्तित कर लिया जाता है तो बाजीगरी करते हुए एक ही चित्र में किसी आकृति के अगले और पिछले हिस्से को मिला देना, अवतल को उत्तल के स्थान पर रख देना, कलाकार की सौन्दर्यशास्त्रीय संवेदनशीलता के मुताबिक यह सब करना कोई बहुत कठिन बात नहीं है" (प्रदान किया गया बल मेरा है)।



Pablo Picasso Three Musicians, 1921

तो घनवादी कलाकार की क्या कोशिश होती है? उसके द्वारा लकीरों और तलों का विश्लेषण किया जाता है, चीजों का निराकार बोध होता है और उन्हें रूपायित किया जाता है; सहकालीनता–यानी एक ही समय पर कई चीजों का साथ–साथ होना–और बहुपरिप्रेक्ष्यों का जश्न मनाया जाता है। घनवाद एकपरिप्रेक्षीय बोध में तो बदलाव लाता ही है, स्थान–स्पेस से सम्बद्ध समझ के परिप्रेक्ष्य को भी हिलाकर रख देता है और इस प्रकार व्यक्ति की वृत्ती के स्तर पर नए विचारों का उभरना सम्भव बनाता है। यह पितृसत्तावाद की बुनियादों और राजनीतिक स्तर पर जड़ पकड़ चुके दृष्टिकोणों के लिए हमेशा एक खतरा है। मानवीय को ज्यामितीय तौर पर रूपायित करके समझने के कुछ लाभ भी हैं–यानी जब प्रकट तौर पर एकीकृत पात्र के रूप में दिखाई देने वाले विचार की छवि या बिम्ब को उसकी घटकीय ज्यामितियों में तबदील कर दिया जाता है तो एक खास तरह की लचक पैदा हो जाती है जिसके चलते नए तरह के मिश्रण और विस्तार सम्भव हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार की प्रस्तुति से नई रेखाओं और तलों और स्पर्श–रेखाओं का मिलना, एक–दूसरे को काटना, तथा मौजूद पात्र (व्यक्ति) का विस्तार करना सम्भव हो पाता है। आत्म का –व्यक्तित्व का– संकुचित, चित्रित–प्रदर्शित रूप और उसकी हदें कहीं पीछे छूट जाते हैं और उसका स्थान एक अधिक तरल, विरल तथा रचनात्मक आत्म ले लेता है जो संसार के साथ अधिक सीधे तौर पर जुड़ा और सम्बद्ध होता है। सभी गम्भीर गतियों–हरकतों को जरूरत पेश आती है कि शरीर की भू–राजनीति की जमीनी सतह की पुनः संकल्पना हो।

अब हम कला में एक ऐसी मुहिम की बात करते हैं जिसका आगमन घनवाद की प्रतिक्रिया में हुआ, यानी अतियथार्थवाद। बार के ही शब्दों में, "1908 के घनवादियों द्वारा हर तरह के भावनात्मक और 'मानवीय' मूल्यों को कठोरता से दरकिनार किए जाने से पिछली पीढ़ी में ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई है जिसके चलते असाधारण मौलिकता की चित्रकला अस्तित्व में आई है... अतियथार्थवाद।" दो विश्वयुद्धों के बीच के समयकाल के दो बौद्धिक व्यक्तित्व और उनका कार्य अतियथार्थवाद के केन्द्र में थे–ज़िग्मुण्ड फ्रॉयड और उनकी किताब 'द इण्टर्प्रेटेशन ऑव ड्रीम्स' तथा कवि आन्द्रे ब्रेट्न और अतियथार्थवाद का उनका घोषणापत्र।

अतियथार्थवादी मानते थे कि फ्रॉयड द्वारा प्रतिपादित



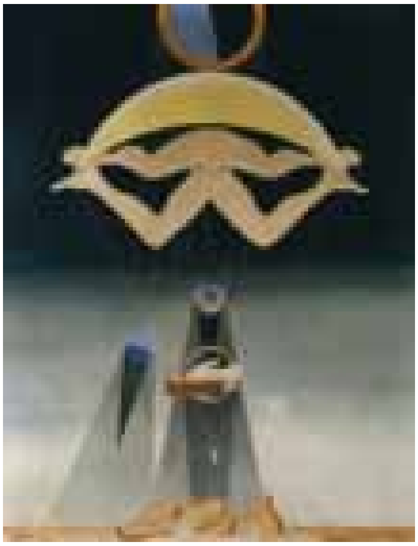
Albert Tucker The Metamorphosis of Ned Kelly 1970

अचेतन रचनात्मक उत्पादन की असली कार्यस्थली है। वे अतिकल्पना तथा सपनों की दुनिया को रोजमर्रा की दुनिया से मिलाने की कोशिश में रहते थे। इनमें से कुछ ने यह कोशिश फ्रॉयड की स्वतंत्र–सम्बद्धता की तकनीक के माध्यम से की, जिसके तहत अचेतन और उसके तौर–तरीकों को उजागर किया जाता था। इसीलिए उसमें से निकलकर आने वाली कला में एक स्वप्न की सी दशा पैदा होती थी। अतियथार्थवादी राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति में विश्वास रखते थे–यदि उस रहस्यमयी अचेतन को काम में ले आया जाए–जो, लगता है कि इन्सान की उत्प्रेरणा और ऊर्जा की जड़ में होती है–तो इन्सान की किस्मत को ही बदला जा सकता है; इन्सान अचेतन प्रेरणाओं का बस एक पात्र बने रहने की बजाए अभिव्यक्ति के माध्यमों से अचेतन की रंगभूमि की खोजबीन करते हुए स्वयं को पुनर्रचित कर सकता है।

इसलिए हालाँकि घनवाद और अतियथार्थवाद विरोधी कैम्प से हैं, उनके राजनीतिक निहितार्थ मिलते–जुलते हैं; दोनों ऐसी आधारभूत संरचनाओं की ओर इशारा करते हैं जो व्यक्ति–पूर्व हैं–एक तो स्वरूप के, ज्यामितीय दृष्टिकोण से और दूसरा भावनात्मक, मानवीय दृष्टिकोण से। दोनों ही इन्सान के लिए बदलाव की सम्भावना पेश करते हैं।

व्यवहार के लिए निहितार्थ

अब तक हमने यह दर्शाने की कोशिश की है कि कला निहित रूप में राजनीतिक हो सकती है–राजनीति उसका विषय नहीं है, तो भी। बात को दूसरी तरह से रखें तो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए–और इसलिए शिक्षा के लिए भी–कलात्मक सोच के महत्त्वपूर्ण प्रभाव और नतीजे हैं। मगर एक सवाल का जवाब अभी आना है। स्कूल में व्यावहारिक कार्य के लिए इस सबके क्या निहितार्थ हैं? बच्चे बहुत हद तक कला की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं मगर यह आशा तो नहीं की जा सकती कि वे व्यक्तिगत और राजनीतिक परिवर्तन की बात को समझते हों। अगर यह बात बस एक बुद्दिजीवी या कला के पारखी की ही समझ के दायरे तक सीमित रहनी है तो इस चर्चा का मनोरथ ही क्या रह जाता है? एक शिक्षक द्वारा इसे गम्भीरता से लिया जाना है तो उपरोक्त सवाल का माकूल जवाब देना होगा–ऐसा, कि शिक्षक उसका कायल हो जाए।



Max Ernst Men Shall Know Nothing of This 1923

जवाब की दिशा में जाने की शुरुआत करते हैं कुछ प्रथाओं और व्यवहार में आने वाले तौर–तरीकों तथा अनुभूतियों से। मैं कुछ प्रथाओं की रूपरेखा रखूँगा और वर्णन करूँगा कि कलात्मक सोच के विकास के लिए इनके क्या निहितार्थ हो सकते हैं, और हमारे आम, साधारण जीवन के लिए इससे क्या नतीजे निकल सकते हैं। जमीनी स्तर पर सोच–विचार के एक साधन के तौर पर हमें कला के संकेतविज्ञान के साथ चलना है तो कुछ शिक्षाशास्त्रीय नजरिए विकसित करने होंगे जो सीखने–सिखाने की प्रक्रिया को परिवर्तित कर सकें।

सर्वप्रथम, कला–कक्षाओं में आमतौर पर देखा जाता है कि बच्चों को तसवीरें उतारने का, देखकर बनाने का काम दे दिया जाता है। यह तो बस अनुकरण या नकल करना ही है और इसका बहुत ही कम महत्त्व है–सिवाय इसके कि एक मृत सम्बन्ध को बल प्रदान किया जा रहा है, क्योंकि ऐसा करते हुए स्पेस की अवधारणा को समझना, उसके बारे में अन्दाजा लगाना और कुछ तय करना शामिल नहीं रहता जबकि यह कला सीखने का मूल उद्देश्य है। अनुकरण से तो मान्य परम्परा के साथ बंधने को ही बढ़ावा मिलता है –इसमें स्वतंत्र भाव शामिल नहीं रहता। इसलिए कला–शिक्षण का पहला सिद्धान्त अनुकरण से बचने का होना चाहिए–बच्चों को किसी अन्य द्वारा बनाई गई

तसवीर या उसके द्वारा किए गए काम को देखकर बनाने को न कहें। इससे कला का उद्देश्य ही पराजित हो जाता है और हम शुरू में ही रास्ता खो देते हैं। अनुकरण की बजाए प्रारम्भ से ही सीधी, प्रत्यक्ष अनुभूति को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। अवलोकन करना, चुपचाप, शान्ति के साथ, उद्देश्यपूर्ण ढंग से देखना–सीखना इसी से अपने पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता बनती है, और यही राजनीतिक अस्तित्व की ओर शुरुआती कदम बढ़ाने का काम भी करता है।

दूसरी बात यह है कि कला–शिक्षण में बच्चे के काम में हमें यह नहीं देखना चाहिए कि उसने देखकर बनाई गई चीज को किस हद तक यूँ का यूँ प्रदर्शित किया है–देखने की बात तो यह है कि कोणों, बारीकियों और विशिष्टताओं के माध्यम से उसने वस्तुगत सत्य को किस प्रकार प्रदर्शित किया है। एक कलाकार कुछ बातों पर बल देता है और अन्य को अनदेखा करता है–इस बात को स्वीकार किया जाना चाहिए कि बच्चे भी स्वत:स्फूर्त ढंग से ऐसा ही करते हैं। शिक्षक को चाहिए कि वह "सुन्दर" या "बुरा" जैसे आमतौर पर प्रयोग में लाए जाने वाले विशेषणों का प्रयोग करते हुए उसके काम के मूल्यांकन से बचे। बल्कि बच्चे से इस बात पर चर्चा करे कि उसने क्या देखा, और अपनी कला के माध्यम से क्या सम्प्रेषित करने की कोशिश की–यह बच्चे और उसके कार्य के बीच एक वार्तालाप जैसी बात होगी। इस बातचीत और चर्चा से बच्चे की भाषाई क्षमताओं और सम्प्रेषण की ताकत को भी बढ़ावा मिलता है। इस क्षमता का विकास एक राजनीतिक अस्तित्व की ओर दूसरे कदम का काम करता है।

तीसरी बात आमतौर पर प्रचलित प्रथा के उलट लग सकती है लेकिन बच्चों को अपनी कल्पना के बल पर कुछ भी बनाने को नहीं कहा जाना चाहिए। बल्कि पहले तो वे वही बनाएँ जो वे प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं। कला कोरी कल्पना ही नहीं है बल्कि उसकी भी एक व्यवस्थित भाषा है जिसके व्याकरण को भी मानकर चला जाता है। हम किसी भी चीज को चित्रित कर सकते हैं, शर्त बस यह है कि उसे ध्यान से देखा जाए, उसके पैटर्न को समझा जाए। बाद में किन्हीं कलात्मक उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए विकृतियों को स्थान दिया जा सकता है। देखे हुए को चित्रित करना केवल यूँ का यूँ चित्रित कर देना नहीं होता बल्कि अवलोकन का एक चिन्तनशील व्यवहार भी होता है। जो देखा गया है या 'जो है', उसके प्रति समझौता किए बिना सच्चा होना एक विकसित होते राजनीतिक व्यक्ति का तीसरा कदम है।

चौथा, बच्चों को प्रेरित किया जाना चाहिए कि वे अपने जीवन की वास्तविक स्थितियों से सम्बद्ध चित्र बनाएँ। दूसरे शब्दों में, यदि वे इस स्थिति में सहज महसूस करते हैं तो उनके काम में काफी कुछ आत्मकथात्मक होना चाहिए (लेकिन जिन बच्चों के बारे में हमें जानकारी है कि उन्हें किसी प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ा है, उन्हें ऐसा करने को कहने से पहले हमें विशेषज्ञों की सलाह ले लेनी चाहिए)। दुनिया को आत्मकथात्मक दृष्टि से देखना–समझना एक उदीयमान राजनीतिक प्राणी का चौथा कदम है।

अन्त में–कोशिश होनी चाहिए कि बच्चे अपने सपनों के प्रति जागरूक हों, और हो सके तो वे उन्हें अपने काम में स्थान दें –शर्त बस यह है कि ऐसा करने में वे सहज–सुरक्षित महसूस करें। यह आत्मकथात्मक तत्व का ही विस्तार और फैलाव है। ऐसा करते हुए हम बच्चों को परोक्ष संकेत दे रहे होते हैं कि वे सपनों को गम्भीरता से लें, शुरुआती दौर में ही अपने जीवन के उस पक्ष के साथ व्यवस्थित तरीके से सम्बन्ध बनाएँ। मानस के साथ सम्बन्ध सम्पूर्णता लिए हुए एक ऐसा तत्व है जो पूरे तौर पर राजनीतिक प्राणी बनने के लिए निर्णायक और महत्वपूर्ण है–एक ऐसा प्राणी जो दुनिया के साथ सार्थक और जागरूक तरीके से सम्बन्ध बना सके। हमारे भाग्य को निर्देशित करने वाली कई उत्प्रेरक शक्तियों और आवेगों की जड़ें बहुत बार हमारे मानस में होती हैं, इसलिए उनकी अभिव्यक्ति खुद के बारे में जानने–समझने का ही एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा होता है।

बच्चों में व्यवस्थित कलात्मक सोच–विचार को बढ़ावा

देने के लिए उठाए जाने वाले कदमों की यह कोई सम्पूर्ण सूची नहीं है लेकिन इससे शुरुआत तो हो ही सकती है। सतर्क पाठक देख पाएगा कि ऊपर कही गई बातों में एक संगति है। यहाँ स्वयं को संसार के सम्बन्ध–सन्दर्भ में कलात्मक दृष्टि से देखने के लिए एक प्लेटफॉर्म बनाने की बात हो रही है। अवलोकन के इस तरीके में स्वयं को एक शुरुआती बिन्दु के रूप में लिया जाता है न कि अन्तिम बिन्दु के तौर पर, और यह तरीका स्वयं तथा संसार के बीच के सीमा–क्षेत्र को अधिक पारदर्शी बनाता है–ऐसा कि इधर से उधर, और उधर से इधर आना–जाना सम्भव हो। इसके अलावा इसी दौरान धीरे–धीरे लेकिन पक्के तौर पर एक भाषा भी विकसित हो रही होती है–क्योंकि इसमें एक तरह का विवरण, एक प्रकार की व्याख्या शामिल है। अन्ततः यह व्यक्ति–विशेष के लिए बाकी संसार के साथ अपना सम्पर्क तीखा और स्पष्ट करने में मददगार होगा– उसी प्रकार जैसे किसी बैटरी के टर्मिनल्स या सम्पर्क–बिन्दुओं की सफाई की जाती है ताकि वे बेहतर कार्य कर पाएँ, विद्युत के बेहतर वाहक बन पाएँ। कलात्मक सोच हमें मौका देती है यह सोचने का कि हम क्या या कौन हैं, और यह यकीनन ही विकासशील शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। गणितीय वस्तुओं और प्रमाणों का आविष्कार महत्त्वपूर्ण है मगर उतना ही महत्त्व गणितीय सोच का है–उसी प्रकार, जहाँ एक ओर शिल्प–कृतियों का महत्त्व है, दूसरी ओर वे कुछ ऐसी विशेष प्रक्रियाओं का निष्कर्ष/अन्तिम स्वरूप हैं जिनके अन्य महत्त्वपूर्ण उद्देश्य भी हैं–जो उन लोगों द्वारा साझा किए जा सकते हैं जो जरूरी नहीं है कि कलाकार ही बनें।



कौस्तुव *अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में पढ़ाते हैं; वे विश्वविद्यालय संसाधन केन्द्र की एकडैमिक्स एण्ड पेडागॉजी टीम के सदस्य भी हैं। कौस्तुव के दिशा निर्देशन में शीघ्र ही विश्वविद्यालय में एक आर्ट स्टूडियो तैयार होगा जो अकादमिक समुदाय के लिए पाठ्यक्रम बनाने हेतु बुनियाद का काम करेगा, साथ ही खाली समय में कलात्मक अभिव्यक्ति की बातें सीखने का स्थान भी बनेगा। उनसे Kaustuv.ray@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।*
अनुवादः *रमणीक मोहन*